Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education

Vol. VI, Issue XI, July - 2013, ISSN 2230-7540

REVIEW ARTICLE

समकालीन सभ्यता और नारी

www.ignited.in

Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. VI, Issue XI, July - 2013, ISSN 2230-7540

समकालीन सभ्यता और नारी

Dr. Sudesh Rani

Bed, M.Phil, P.hd in Hindi

---------------------------♦-----------------------------

1.1 प्रस्तावना :

समकालीन सभ्यता और उसमें नारी की स्थिति पर विचारार्थ आगे बढ़ने से पूर्व " नारी पात्रों में मन–मस्तिष्क का द्वन्द " में प्रयुक्त मन मस्तिष्क के पदबन्ध पर प्रकाष डालना समोचीन होगा। मनुष्य के भीतर चेतना का जो पीठ है, उसे हम " मानस " या " मन " के रूप में जानते–पहचानते हैं। इस " मानस " या " मन " के दो बहुत मोटे विभाग किये जाते रहे हैं –" बुद्धि " और " ह्रदय " " बुद्धि " मन का वह आयाम है जिससे हमारे दैनंदिन जीवन के समस्त कार्य–कलाप निष्चित–निर्धारित होते हैं। आत्म–रक्षा जिसके तहत अन्न–संपादन का कार्य भी समाविष्ट हो जाता है, और आत्म विकास की बुनियादी जैविक प्रवृत्तियों से लेकर जीवन–यापन की रीतियों वा समाज, राजनीति आदि से जुड़े समस्त विधाओं तक का संबंध इसी बुद्धि–तत्व से है। दूसरी ओर ह्रदय का संबंध मानव मन की उन रागात्मक वृत्तियों से है जिनके जरिये हम मानव–समाज वा व्यापक विष्व–जीवन के साथ जुड़ते हैं। मनुष्य के समस्त नैतिक चेतना, सदाचार, मूल्य–संहितायें–जिन्हें हम सामान्यत : संस्कृति के नाम से अभिहित करते हैं – आदि इसी ह्रदय वृत्ती पर निर्भर हैं। विवेक वृत्ति, न्याय–बुद्धि, विकसित धर्म–चेतना आदि भी इसी के पर्यायवाची शब्द हैं। संक्षेप में मनुष्य की समस्त मनुष्यता, मानवता या इन्सानियत इसी ह्रदय–वृत्ती पर आधारित है। इन्हीं बुद्धि और ह्रदय–तत्वों की समुचित, सामंजस्यपूर्ण विकास पर ही मानव–जीवन वा सभ्यता–संस्कृति का स्वास्थ्य निर्भर करता है। अब इसी बुद्धि–तत्व को प्राय : मस्तिष्क की संबा दी गयी है और उपर के पदबन्ध में " मन " शब्द को ह्रदय के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त किया है। यह स्थानापन्नता बहुत आदर्श तो नहीं है, फिर भी " मन – मस्तिष्क " में जो लय और संगीतात्मकता है उसके कारण ऐसा किया गया है, लेकिन वह प्रयोग यहाँ पर पहली बार नहीं किया है। उसकी अपनी एक लम्बी परम्परा है। इसी बल पर यहाँ हमने ह्रदय और मस्तिष्क के स्थान पर मन–मस्तिष्क के पदबन्ध का प्रयोग किया है,

यूँ देखा जाय, तो साहित्य और मनोविज्ञान में " मन " शब्द के अर्थ नितांत भिन्न स्तर के हैं और चिकित्सा–शास्त्र में तो " मस्तिष्क " मनुष्य की कपाल–पेटिका में सुरक्षित माँस–पिण्ड के रूप में वर्णित होते हुए भी अपने निर्माण और कार्य–शैली के कारण मनुष्य को समस्त बाह्य–अनुभूतियों का बोध कराते हुए उसकी यथोचित क्रिया–प्रतिक्रिया हेतु आवष्यक प्रेरणा देने वाले ऊर्जा स्त्रोत के रूप में वर्णित हुआ है। अत : स्पष्ट है कि मस्तिष्क ही मानव की विचारधारा का मूल स्त्रोत है और विचारों के अंतर्गत विद्यमान सूक्ष्म भिन्नताओं के आधार पर मन और मस्तिष्क का अस्तित्व निरूपित हो चुका है। जिस प्रकार चिकित्सा–शास्त्र में मस्तिष्क एक महत्वपूर्ण गोचर यथार्थ है, उसी प्रकार मनोविज्ञान में मन एक अगोचर सत्य है। हमारे दैभदिनि व्यवहार के विभिन्न संदर्भों में अलग–अलग अर्थों और मुहावरों में प्रयुक्त होने वाले इस मन और मस्तिष्क के व्यवहारिक से विषिष्ट तक अर्थ एवं परिभाषायें विभिन्न स्त्रोतों से उपलब्ध हैं, उन्हें अधोलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि सामान्य व्यवहार और शोध–प्रबन्ध में प्रयुक्त इन शब्दों के अर्थबोध में अंतर क्या है इन दोनों के साथ–साथ " द्वन्द " शब्द की भी व्याख्या दी गयी है, जिससे कि शोध–प्रबन्ध के शीर्षक को पूर्णता प्राप्त हो।

1.2 मानसिक विष्लेषण :

मन की क्रिया, प्रतिक्रियाओं का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते हुए सबल सैद्धांतिक पक्ष को प्रस्तुत करने वाला विज्ञान ही मनोविज्ञान है, जिसके लिए प्रचलित अंग्रेजी शब्द च्ेलबीवसवहल (साइकलोजी) है। इसकी व्युत्पत्ती च्ेलबीम (साइकि) शब्द से हुआ है। " मानक अंग्रेजी – हिन्दी कोष में इस च्ेलबीम (साइकि) शब्द के अर्थ इस प्रकार है, – " मानक अंग्रेजी – हिन्दी कोष " में इस (साइकि) शब्द के अर्थ इस प्रकार हैं, " चित्त, आत्मा, मानस, मन" [2]. युनानी देवमाला में इसे स्तवे अर्थात् कामदेव की प्रेमिका माना जाता है और इसकी मूर्ति पर तितली के पर दिखाए जाते हैं। " इस प्रकार साइकि शब्द मन का बोध कराने के साथ–साथ प्रेम और काम जैसे उसके सहज–तत्वों की ओर संकेत करता है। " इन्साइक्लोपीडिया ऑफ साइकॉलजी " में " साइकि " शब्द की परिभाषा इस प्रकार हैं –

वैदिक साहित्य में मन को एक इंद्रिय माना गया है तथा बुद्धिमत्ता, विवेकषीलता, निर्णयात्मक शक्ति, तार्किक्ता, संवेदनषीलता आदि इस मन के विलक्षण तत्व हैं।

हिन्दी में प्रचलित तत्सम और तद्भव शब्दों को गिनाया जाये तो " मन " के लिए प्रयुक्त कतिपय पर्याय–षब्द अंतःकरण, अंतरंग, अनंग, आत्मा, इच्छा, गुढ़पद, मानस, ह्रदय, चित्त आदि है। संदर्भ के अनुरूप ही इन में से शब्दों का चुनाव और प्रयोग किया जाता है। प्रामाणिक हिन्दी कोषों में इस शब्द के लिए प्रयुक्त परिभाषाओं पर प्रकाष डालना यहाँ अत्यंत आवष्यक है। "हिन्दी शब्द सागर" के आठवें भाग में मन की परिभाषा इस प्रकार है– प्राणियों में वह शक्ति या कारण जिससे उनमें वेदना, संकल्प, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, बोध और विचार आदि होते हैं। अतःकरण, चित्त, विशेष–वैषेषिक दर्षन में मन एक अप्रत्यक्ष द्रव्य माना गया है। संख्या, परिमाण, प्रथकत्व, संयोग, वियोग, विभाग, परत्व अपरत्व और संस्कार इसके गुण बतलाए गए है और इसे अणुरूप माना गया है। इसका धर्म संकल्प–विकल्प करना बतलाया गया है तथा इसे उभयात्मक लिखा है अर्थात् उसमें ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय दोनों के धर्म है।

www.ignited.in

1. योगशास्त्र में इसे चित्त कहा है। बौद्ध आदि इसे छठी इंद्रिय मानते हैं।

2. अंतःकरण की चार वृत्तियों में से एक जिससे संकल्प विकल्प होता है। मन के लिए प्रयुक्त एक अन्य परिभाषा में इसे तात्विक स्तर पर आत्मा, शरीर और भिन्न प्रकार का माना गया है

" मानक हिन्दी कोष " में प्रयुक्त मन की परिभाषा से उसके वास्तविक तत्वों और भाषिक स्तर का अर्थ बोध स्पष्टतः हो जाता है, यथा '' मन–1. प्राणियों के अंतःकरण का वह अंष जिससे वे अनुभव, इच्छा, बोध, विचार और संकल्प विकल्प करते हैं।

1.3 विशेष – क.

शास्त्रीय दृष्टि से यह उन सभी शक्तियों को उद्‌गम या मूल है, जिसके द्वारा हमस ब काम करते, सब बातें जानते और याद रखते तथा सब कुछ सोचते समझते हैं। इसीलिए वैषेषिक ने इसे उभयात्मक अर्थात कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेंद्रिय दोनों के गुणों से युक्त माना है। यह आत्मा, शरीर तथा ह्रदय तीनों से भिन्न एक स्वतंत्र तत्व है, और अंतःकरण की चार वृत्तियों में से एक वृत्ति के रूप में माना गया है। (शेष तीन वृत्तियाँ चित्त, बुद्धि और अहंकार है) परन्तु योग शास्त्र में इसी को चित्त कहा गया है। शरीर के अंत के साथ इसका भी अंत हो जाता है।

ख. भाषिक क्षेत्र में यह अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से बहुत व्यापक शब्द है। अनुभूति, अनुराग, उत्साह, प्रकृति, प्रवृत्ति, विचार, संकल्प आदि अनेक प्रसंगों में इसका प्रयोग होता है, और इसके बहुत से मुहावरे उक्त बातों से संबद्ध है। कुछ अवस्थाओं में यह चित्त और ह्रदय के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी कोशों में उक्त इन परिभाषाओं से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मन और ह्रदय अंतःकरण के लिए प्रयुक्त पर्याय होने के साथ–साथ मन उस अंतःकरण की प्राणिगत ऐसी शक्ति है,

जैसे " ह्रदय – 1. प्राणियों के शरीर में छाती के अंदर बाई ओर का वह माँस कोष जिसके स्पन्दन के फल स्वरूप सारे शरीर की नाडियों में रक्त संचार होता रहता है। कलेजा, दिल," । इसके साथ–साथ हर्ष, क्रोध, प्रेम जैसी नैसर्गिक अनुभूतियाँ प्राप्त कराने वाले आंतरिक तत्व के रूप में भी " ह्रदय " शब्द परिभाषित हुआ है, यथा

2. " ह्रदय के पास छाती के मध्यभाग में माना जाने वाला वह अंग जिसमें प्रेम, हर्ष, शोक, करूणा, क्रोध आदि मनोविका उत्पन्न होते और रहते हैं। (हार्ट, उक्त दोनों अर्थों के लिए) जैसे – यदि तुम में ह्रदय होता, तो तुम कभी ऐसे निष्ठुर न होते हैं। "

1.4 वैदिक साहित्य–मन का अर्थ–बोध :

वैदिक साहित्य के अनुसार इस संपूर्ण सृष्टि की रचना, निर्वाह और लय की पृष्ठभूमि में सक्रिय एक असीम सत्ता स्वंय अपनी ही सृष्टि के प्रत्येक कण में विद्यमान है। जो परमात्मा शब्द के साथ अनेकानेक संज्ञाओं से अभिहित है, जिनमें " आत्मा " शब्द भी एक है। समस्त वैदिक साहित्य के सारभूत तत्व को अपने में संगृहित किये हुए गीता–षास्त्र के षष्टम अध्याय के पाँचवे और छठवें श्लोकों में एकाधिक बार प्रयुक्त यही " आत्मा " शब्द–प्राणियों में विद्यमान चेतना शक्ति के साथ–साथ मन का भी अर्थबोध कराता है तथ इन श्लोकों में मन की कतिपय विषेष वृत्तियों की ओर भी स्पष्टतः इंगित किया गया हैं।

'' उद्धरे दात्मनात्मानं नात्मान मवसाद्वयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु रात्मैव रिपु रात्मन :।। ''

–अर्थात् '' भिन्न–भिन्न संदर्भों में प्रयुक्त '' आत्मा '' शब्द देह, मन और आत्मा की अर्थ–प्रतीति कराता है। योग विद्या के अंतर्गत मन और बद्ध–आत्मा दोनों का प्रमुख स्थान है। मन ही योग विद्या का केन्द्र होने के निमित्त यहाँ आत्मा से तात्पर्य मन ही है। मन को अपने अधीन रखते हुए, इन्द्रियों को विषयानुरक्ति की मुक्ति हेतु मन को तथानुकूल प्रशिक्षित करने की आवश्कता पर यहाँ बल दिया गया है। भौतिक जीवन में मनुष्य अपने मन और इंद्रियों के अधीन ही प्रतिकृत रहता है। भौतिक जगत पर अधिकार पाने की इच्छा को प्रेरित करने वाले दुरहंकार से मन के जुड़ जाने के कारण ही विशुद्ध आत्मा भी भौतिक जगत से आबद्ध हो जाती है। इंद्रिया शक्ति में पड़कर मनुष्य को अपने को निम्न स्तर पर नहीं पहुँचाना चाहिए। कृष्ण भक्ति में मन को तल्लीन रखने पर ही इंद्रियाशक्ति से मुक्त रहा जा सकता है।''

'' बन्धु रात्मात्मन स्तस्य येनात्मैवात्मना जित :

अनात्मनस्तु शतृत्वे वर्तेतात्मैव शतृवत्। ''[2]

–अर्थात् '' मानव द्वारा कर्तव्यों को निभाने में अपने मन को मित्र बनाये रखने हेतु उस पर नियंत्रण करना ही अष्टांग योग साधना का प्रयोजन है।

यदि मन पर नियंत्रण नहीं किया जाता है, तो योग साधना मात्र प्रदर्शन बनकर रह जायेगा। मन पर नियंत्रण न रख सकने वाले की स्थिति सर्वदा अपने शत्रु के संग जीवन बिताने के समान हो जाती है। जब तक मन अजीवित शत्रु के समान रह जाता है, तब तक वह व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि वृत्तियों का दास बना रहा है। अत : कृष्ण भक्ति में प्रवृत्त व्यक्ति के लिए ही परमात्मा की आज्ञाओं का पालन संभव है। ''

इस प्रकार गीता के ये श्लोक प्रकारांतर से मन की चंचल प्रवृत्ती तथा आध्यात्मिक उन्नति हेतु उस पर पूर्ण नियंत्रण की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार अमूतबिन्दूपनिषद में कहा गया है कि –

'' मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो :

बन्धाय विषयासंगो मुक्यै निर्विषयं मन : ''

अर्थात् – '' मनुष्य के लिए उसका मन ही बन्धन अथवा मोक्ष का कारण बनता है। इन्द्रियाशक्ति में लिप्त मन बद्ध होता है और इन्द्रियों के प्रति अनाशक्त मन मोक्षगामी होता है। '' घ्यातव्य है कि इंद्रियों के प्रति अर्थात् नैसर्गिक अनुभूतियों और इच्छाओं के प्रति मन का तीव्र आकर्षण उसका एक सहज तत्व ही है। वैचारिक भिन्नता को ही रेखा बनाते हुए जब मन और मस्तिष्क को ह्रदय–तत्व और बुद्धि–तत्व के रूप में विश्लेषित किया जायेगा, तब मन संबंधी इन समस्त तत्वों को उसकी क्रिया–प्रतिक्रिया के लिए कारणवत् प्रस्तुत किया जायेगा। भारतीय दर्शन की विविध शाखाओं में मन संबंधी विशद व्याख्या विश्लेष्ण उपलब्ध है, जिनके अवलोकन मात्र से मन संबंधी शंकाओं का निदान ही नहीं हो, प्रत्युत् जीवन निर्वाह हेतु एक अमूर्त शक्ति के रूप में उसका अस्तित्व भी सु–दृढ़ हो जायेगा। न्याय दर्शन के अनुसार '' मनन करने वाले साधन को मन

कहा जाता है। मनन् अर्थात् सोचना–विचारना आदि। यह मन, इद्रिय और आत्मा के बीच संबंध स्थापित करने वाला एक माध्यम है। इसलिए वह बाह्य और आभ्यंतर, दोनों प्रकार की इन्द्रियों से संबंध है। किन्तु उसकी विशेषता इसमें है कि वह अस्पृश्य अदृष्ट होते हुए भी क्रियाशील है। वह अनुमान–सिद्ध है। वह इतना द्रुतगामी है कि एक बार एक विषय पर अधिष्ठित रहता हुआ भी तरंगस्थ जलबिन्दु की भाँति अपने अस्तित्व को विलय करके हमारे भीतर के अनेकत्व एवं पूर्वापर का भेद मिला देता है, और इसीलिए हम रोटी खाते समय उसके रूप, रस, गंध, स्पर्श का एक साथ अनुभव करते हैं।'' [1] न्याय दर्शन की इस टिप्पणी से मन के चिन्तन् करने की शक्ति बाह्य जगत संबंधी पदार्थों के ज्ञान को संचित रखने की क्षमता और दूरस्त वस्तु एवं व्यक्तियों तक कल्पना के माध्यम पहुँच सकने की कुशलता जैसे – विशेष तत्वों का उद्घाटन होता है।

'' वैशेषिक दर्शन '' में मन के लिए दिए गए विश्लेषण से उसके प्रमुख आठ तत्वों के साथ उसकी उस शक्ति का भी स्पष्ट बोध होता है जो कि वस्तु जगत से पदार्थ संबंधी ऐंद्रीय अनुभूतियों को संचित एवं समन्वित कर एक निश्चित भावना के रूप में उसे आत्मा तक पहुँचाने के काम करती है। इस दर्शन में लिखा गया है कि '' मन '' उसको कहते हैं, जो सुखादियों के ज्ञान का साधक (करण) होता है।यही सुखादियों की उपलब्धी ही उसका विषेष गुण है। ये सुख–दुःखादि क्यों कि आभ्यतरिक हैं । इसलिए इनका अनुभव करने के लिए आभ्यन्तरिक साधन की आवष्कता होती है।

ज्ञान, इच्छा और सुख दुःखादि जो आभ्यन्तरिक पदार्थ हैं, उनके साक्षात्कार के लिए मन की आवष्यकता है। आत्मा, इन्द्रिय और विषय इन तीनों के रहते हुए भी जीव की ज्ञानोपलब्धि नहीं हो सकती है। वह मन का कार्य है। इन्द्रिय से गृहीत विषयों का ज्ञान मन के द्वारा आत्मा तक पहुँचता है। इसलिए जब मन अन्यत्र रहता है तब जीवात्मा को ज्ञानोपलब्धि नहीं हो सकती है। मन के आठ सामान्य गुण हैं–

1. संख्या (अनन्त) 2. परिमाण, 3. पृथकत्व, 4. संयोग, 5. विभाग, 6. परत्व,

7. अपरत्व और 8. वेग।

वैषेषिक के अनुसार एक एक शरीर में एक एक मन अणुरूप में विद्यमान रहता है। अतः मन निरवयव है, अणुरुप है, और प्रत्यक्ष का आभ्यन्तरिक साधन है। वह एक अन्तराष्ट्रिय है, जिसके द्वारा आत्मा विषयों का ग्रहण करता है। ''

मन अत्यंत संवेदनषील रूप में प्रतिकृत होने वाले इंद्रिय के साथ–साथ संकल्प–षक्ति से युक्त ज्ञान के रूप में भी अभिवर्णित हुआ है। आचरणीय और अनाचरणीय का बोध कराने वाली अंतरवर्तिनी तर्क–बुद्धि अथवा विवेक को ही सांख्य–दर्षन में मन माना गया है, यथा – '' मन उभयात्मक इंद्रिय है। ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने से वह ज्ञानेन्द्रिय का रूप धारण कर लेता है और इसलिए मन वस्तुतः लोचदार इन्द्रिय है। संकल्प और विकल्प उसके विषय है, धर्म है, स्वरूप है।

'' किसी कार्य को किया जाय या न किया जाय '' इसको संकल्प–विकल्प कहते हैं, जो मन की क्रिया है। ''

अपने पारिवैषिक परिस्थितियों के आधार पर क्रिया–प्रतिक्रिया करने वाली मनुष्य की अन्तर्वर्तिनी चैतन्यधारा को अदैत वेदान्त में अंतःकरण दी संबा से अभिहित किया गया है तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इसके प्रमुख तत्व के रूप में वर्णित हुए हैं। इन चारों तत्वों के भी अपने स्वतंत्र लक्षण हैं, यथा बुद्धि में निष्चयात्मकता, मन में संकल्पनात्मकता, चित्त में अनुसंधानात्मकता और अहंकार में अभिमानात्मकता का प्राधान्य है। अदैत वेदान्त के अनुसार उक्त '' मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिंय का प्रेरक होने से उनका अधिपति है। उसका स्थान ह्वदय कमल में है। मन, क्योंकि बाह्य शब्दादियों में इन्द्रियों के बिना प्रवृत्ति नहीं होती, अतः उसको आन्तर कहा गया है। इन्द्रियाँ जब अपने–अपने विषयों में लगी होती हैं तब मन अच्छे–बुरे गुण–दोषों का विवेचन करता रहता है।

मन तीन गुण हैं, तत्व, रज और तम। तत्व गुण से वैराग्य, क्षमा तथा औदार्य आदि शांत प्रवृत्तियों का उदय होता है, रजोगुण से काम, क्रोध, लोभ, प्रयत्न आदि घोर वृत्तियों की उत्पत्ति होती है, और तमोगुण से आलस्य, भ्रांति तथा तंद्रा आदि मूदवृत्तियों का जन्म होता है।'' [2] स्पष्ट है कि यह मन ज्ञान और कर्म संबंधी विचारों और अनुभूतियों को उपकरण

रूपी इंद्रियों के माध्यम अभिव्यक्ति प्रदान करता रहता। मन के जो तीन वधान लक्षण बताये गये हैं, उनमें से सात्विक प्रवृत्ति को ही ह्वदय के पर्याय रूप में ग्रहण करते हुए जयषंकर प्रसाद ने कामायनी में रूपक के माध्यम श्रद्धा और उसके औदार्य गुण का वर्णन किया है, जैसे –

'' ह्वदय की अनुकृति बाह्य उदार

एक लंबी काया, उन्मुक्त

मधु–पवन–क्रीडित ज्यों शिषु साल,

सुषोभित हो, सौरभ–संयुक्त।''

1.5 मस्तिष्क की चीर–फाड़ :

वैज्ञानिक अनुसंधान में तथ्यों की प्राप्ती हेतु प्राणियों के देह और पदार्थों की चीर–फाड़ की जाने की प्रणाली अपनाई जाती है। इसी प्रकार यहाँ मस्तिष्क शब्द की भी चीर–फाड़ अर्थात् अर्थ विष्लेषण का उपक्रम किया जा रहा है, जिससे कि मस्तिष्क संबंधी विभिन्न अवधारणाओं का उद्घाटन हो सके। मन एक अगोचर यथार्थ होने के कारण तत्संबंधी अवधारणाओं की प्राप्ती हेतु '' विष्लेषण '' शब्द का प्रयोग किया गया है और मस्तिष्क एक गोचर पदार्थ होने के कारण उससे संबंधित सिद्धांतों और विचारों की व्याख्या के लिए चीर–फाड़ शब्द का प्रयोग किया गया है।

संस्कृत पुल्लिंग शब्द '' मस्तिष्क '' का प्रयोग व्यवहार में दिमाग और भेजा जैसे शब्दों से होता है। अंग्रेजी में इसके लिए प्रयुक्त शब्द **''ब्रेइन''** है। मन और मस्तिष्क के द्वन्द की अनिवार्य स्थिति के व्याख्या – विष्लेषण से पूर्व यह निष्चित कर लेना अत्यंत आवष्यक है कि '' मस्तिष्क '' मानव की कपाल पेटिका में सुरक्षित मांसपिंड मात्र न होकर '' बुद्धि–तत्व'' का प्रतिनित्य भी करता है। यद्यपि मस्तिष्क में ही ह्वदय–तत्व और बुद्धि तत्व से संबंध विचारधारा में फूट पड़ती है, किन्तु इन विचारों में विद्यमान

अंतर को ग्रहण करने हेतु उक्त दोनों तत्वों को क्रमष : '' मन '' और '' मस्तिष्क '' शब्दों से सूचित किया गया है। अतः बुद्धि–तत्व के लिए मस्तिष्क शब्द को उपयुक्तता और प्रामाणिकता के निर्धारण से पूर्व तत्संबंधी परिभाषाओं पर विहंगम दृष्टिपात कर लेना अत्यंत आवष्यक है।

प्रामाणिक हिन्दी कोशों में मस्तिष्क शब्द के लिए प्रयुक्त परिभाषाओं का उल्लेख भी यहाँ आवष्यक है। '' हिन्दी शब्द सागर '' के अनुसार –

1. मस्तक के अन्दर का गूदा, भेजा, मगज। विशेष – कहा जाता है, भोजन का परिपाक होने पर जो रस बनता है, वह क्रमषः मस्तक में पहुँचकर स्निग्धरूप धारण करता है और उसी के द्वारा स्मृति और बुद्धि काम करती है, उसी को '' मस्तिष्क '' कहते हैं।

2. बुद्धि के रहने का स्थान '' दिमाग ''। इस परिभाषा में मस्तिष्क को वैज्ञानिक कार्य प्रणाली के साथ–साथ उसकी उस विवेक–षक्ति का भी उल्लेख किया गया है, जिसे हम बुद्धि की संज्ञा से अभिहित करते हैं। अंतःकरण के लिए प्रयुक्त चारों तत्वों में से विषेषतः इसे बुद्धि का प्रतीक माना गया।

'' मानक हिन्दी कोष '' में मस्तिष्क की परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार है–

1. मस्तक के अन्दर का गूदा ,

2. वह मानसिक शक्ति जिसके द्वारा मनुष्य सोचने समझने आदि का काम करता है। दिमाग।[2]

स्पष्ट है कि मस्तिष्क स्थूल रूप में एक अवयव और सूक्ष्म रूप में चिंतन मनन का केन्द्र है। संकल्पनात्मकता और निष्चयात्मकता के रूप में क्रमष : के जिस मन और बुद्धि तत्वों का वर्णन सर्वत्र हुआ है, वे तत्व मस्तिष्क की प्रतिक्रिया स्वरूपी कार्य प्रणाली को ही इंगित करते हैं।

इस प्रकार अपने में उत्पन्न विचारगत भिन्नता के आधार पर मस्तिष्क ही क्रमष : मन और मस्तिष्क अथवा ह्रदय तत्व और बुद्धि तत्व के रूप में विभाजित है। अतः इस संदर्भ में प्रकारांतर से मस्तिष्क का बोध कराने वाली '' बुद्धि '' के लिए विभिन्न दर्षनों में प्रयुक्त व्याख्याओं का उल्लेख कर लेना समोचीन प्रतीत होता है। लेकिन इस संदर्भ में इस तथ्य को भूलना नहीं चाहिये कि दर्षन, गीतादि में बुद्धि की व्याख्या करते समय प्रयुक्त ''आत्मा'' शब्द मन अथवा अंतःकरण का भी अर्थ–बोध कराता है।

न्याय दर्षन के अनुसार '' बुद्धि '' आत्मा का गुण है। वह आत्मा का प्रकाष है। उससे आलोकित होकर समस्त पदार्थों से आत्मा का परिचय होता है इसलिए जिसके द्वारा आत्मा को किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त हो वही '' बुद्धि '' है।[1] न्याय दर्षन की बुद्धि संबंधनी इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि '' बुद्धि '' प्राणी की वह आंतरिक शक्ति है, जो प्राणी को भौतिक जगत संबंधी ज्ञान से अवगत कराने के साथ–साथ ग्रहण एवं तिरस्कार योग्य विवेक शक्ति का भी प्रतिनिध्य कराती है। इसी के सबल मीठे फल को देखते ही व्यक्ति हाथ बढ़ाता है, तो राह में पड़े कंटक को देखकर पैर हटा लेता।

सांख्य दर्षन में बुद्धि की उपलब्ध विषद व्याख्या से उसके समस्त तत्वों का बोध हो जाता है। इस दर्षन के अनुसार '' बुद्धि '' तत्व का ही अपर नाम महतत्व है। इसकी ''महत'' इसलिए कहा जाता है कि – धर्म, ज्ञान, ऐष्वर्य और वैराग्य आदि सभी उत्कृष्ट (महान) गुणों का उसमें आवास रहता है।

किसी विषय के संबंध का निर्णय हम बुद्धि के द्वारा ही कर सकते हैं। उसमें सत्व–गुण की प्रधानता रहती है, किन्तु तम और रज उसमें तिरोहित रूप में रहते हैं।

बुद्धि के साथ मन और अहंकार को मिलाकर अंतःकरण की निष्पत्ति होती है। अंतःकरण में उदित निष्चयात्मक वृत्ति का नाम ही बुद्धि है। बुद्धि का धर्म होता है। अपने सहित दूसरी वस्तुओं को प्रकाषित करना।

बुद्धि के दो प्रकार हैं, मस्तिष्क और तामसिक। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐष्वर्य सात्विक बुद्धि के गुण हैं और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैष्वर्य तामसिक बुद्धि के गुण हैं। बुद्धि जीवात्मा के भोग का प्रधान साधन है। भोग और मुक्ति जो कि क्रमषः प्रकृति और पुरूष के स्वभाव हैं, बुद्धि के द्वारा प्रकाषित एवं प्राप्त होते हैं।[1] इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि निष्चयात्मकता बुद्धि का प्रधान गुण है तथा इसमें तामसी और राजसी तत्व जैसे क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि निक्षिप्त रूप में विद्यमान रहते हैं और अनुकूल अवसर पाते ही अभिव्यंजि होते हैं। अपनी उच्चतम स्थिति में बुद्धि जहाँ आध्यात्मिक विषयों की ओर प्रवृत्त होती है, वहीं अपनी निम्नतम स्थिति में वह भोगवादिनी बन जाती है।

योगदर्षन में अनात्मवादी बौद्धों को धारणा बुद्धि के संदर्भ में इस प्रकार है।[2] चित्त या बुद्धि हो सत्तावान है उसी की प्रेरणा से जगत का सारा कार्य–व्यापार संचालित होता है। उसके अतिरिक्त आत्मा नामक वस्तु का कोई अस्तित्व है ही नहीं।

'' इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि का सोधा और एकमात्र संबंध भौतिक जगत के कार्य–व्यापारों से ही है और इन कार्य व्यापारों को निभाते समय व्यक्ति के सम्मुख जो बाधायें, उत्पन्न होती है, उनसे मुक्ति पाने के लिए उसे नाना प्रकार के उपाय करने पड़ते हैं। परिणामतः अपनी सुविधाप्रिय प्रवृत्ति के कारण बुद्धि अधिकांष संदर्भों में अनाचरणीय को ही अपनाती रहती है।

अद्वैत वेदांत में भी बुद्धि को अंतःकरण की प्रधान वृत्तियों में एक मानते हुए और मन का पर्याय स्वीकार करते हुए कहा गया है कि – '' विमर्ष में संषय को उत्पन्न कर देने वाली प्रवृत्ति का नाम '' वृत्ति '' है। वह मन का ही अपन स्वरूप है। जिस वृत्ति (मन) का स्वरूप निष्चित है। उसको '' बुद्धि '' कहते हैं।''[1] इस व्याख्या से यह अवगत होता है कि बुद्धि, मन का पर्याय होते हुए भी उसमें संकल्प–विकल्प की अपेक्षा निष्चयात्मकता का ही प्राधान्य है, अतः स्थिरता और दृढ़ता उसके विषेष गुणों के रूप में घोषित होते हैं।

उक्त तथ्यों के विवेचन के उपरान्त जो सार–संकलन प्रस्तुत होता है वह इस प्रकार है –

स्थूल रूप में मानव के समस्त कार्य व्यापार उसके विचारों और अनुभूतियों पर ही सापेक्षित हैं तथा इन विचारों की अभिव्यक्ति और अनुभूतियों के गृहण का श्रोत उसका म नही ही है। विचारगत एवं प्रतिक्रियागत भिन्नता के आधार पर ही इस मन को ह्रदय तत्व और बुद्धितत्व के रूप में विभाजित किया गया है और यहाँ यह तथ्य विस्मृत नहीं होना चाहिये कि अगोचर मन के कार्य व्यापारों की प्रेरणादायक जैविक शक्ति का नाम ही मस्तिष्क है। जिस प्रकार मन और ह्रदय तथा मन और ह्रदय

www.ignited.in

तथा मन और बुद्धि पर्याय है, उसी प्रकार बुद्धि और मस्तिष्क भी पर्याय ही है। जहाँ मन अपनी संषयात्मकता और संवेदन–षीलता, के आधार पर हृदय–तत्व की प्रतीती कराता है, वहीं अपनी निष्चयात्मकता, दृढ़ता और स्थिरता के आधार पर मस्तिष्क बुद्धितत्व का अर्थ बोध कराता है। भाउकता, प्रेम, दया, करूणा आदि जहाँ मन के हिस्से में परिगणित होते हैं, वहीं भोग, क्रोध, द्वेष आदि मस्तिष्क–पक्ष में आते हैं। मन का संबंध भाव–जगत से अधिक है, तो मस्तिष्क का अधिक संबंध भौतिक जगत से है। पारिवैषिक परिस्थितियों के अनुरूप मन की प्रथम प्रतिक्रिया आभ्यंतरात्मक होती है, तो मस्तिष्क प्रथमतः बाह्य रूप में प्रतिकूल होता है।

मनोविज्ञान में विष्लेषित चेतन और अवचेतन ही विवेच्य विषय के अंतर्गत प्रयुक्त मस्तिष्क और मन अथवा बुद्धि–तत्व और हृदय–तत्व का प्रातिनिध्य करते हैं। सामाजिक परिवेष में अवचेतन पर चेतन का आधिपत्य परिलक्षित होता है, तो एकांतिक जीवन में वही अवचेतन अपनी पूरी शक्ति के साथ चेतन को चुनौति देता है, इसी को हम मन और मस्तिष्क के पारस्परिक संघर्ष के रूप में देखते हैं।

भौतिक जगत में देखा जाय तो हृदय–तत्व नारी–प्रवृत्ती के रूप में और बुद्धि–तत्व पुरूष–प्रवृत्ती के रूप में अभिवर्णित है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि नारी में बुद्धितत्व और पुरूष में हृदय–तत्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्राचीन युग से अर्वाचीन युग तक उक्त अपवाद के उदाहरण मिले जाते हैं, जिन्हें प्राचीन युग से अर्वाचीन युग तक उक्त अपवाद के उदाहरण मिल जाते हैं, जिन्हें हम पारिवैशिक प्रभाव की प्रतिक्रिया मान सकते हैं। ध्यातव्य है कि यहाँ विवेच्य विषय नारी के व्यक्ति तत्व में बुद्धि–तत्व की व्यूत्पत्ति और उन्मीलन किन परिस्थितियों में होता है तथा उसे किस प्रकार नारी की सहज प्रवृत्ति अर्थात् हृदय–तत्व से संघषरत होना पड़ता है। हृदय और बुद्धि परस्पर विरोधात्मक तत्व होने के कारण उन दोनों की अस्मिता समान रूप में किसी एक ही व्यक्तित्व में निर्द्वन्दता की स्थिति में रहना असंभव है। अतः मन और मस्तिष्क के द्वन्द की व्याख्या से पूर्व द्वन्द शब्द का विष्लेषण कर लेना भी आवष्यक है।

1.6 द्वन्द्व की निर्द्वन्द्व व्याख्या :

द्वन्द्व के बारे में निर्द्वन्द्वतः यह कहा जा सकता है कि द्वन्द्व अथवा संघर्ष एक नैसर्गिक–क्रिया है, और–तो–और मार्क्सवादी इसे विकास एवं प्रगति के लिए एक अनिवार्य तत्व के रूप में सिद्ध करते हैं। दो विरोधी तत्वों में घटित संघर्ष ही उन तत्वों में विद्यमान शक्ति को घोषित करने वाली कसौटी है। द्वन्द्व शब्द के लिए अंग्रेजी में कान्फ़्लिक्ट ; ब्वदसिसबज द्ध शब्द प्रचलित है। ''एन साइक्लोपीडिया ऑफ साइकॉलजी'' में इस कान्फ़्लिक्ट को परिभाषित करते हुए लिखा गया है।

मनुस्मृति के प्रथम एवं षष्टम अध्यायों में ' द्वन्द्व ' शब्द का प्रयोग व्यक्ति को प्राप्त होने वाली विरोधात्मक अनुभूतियों और उसके जीवन में आने वाली परस्पर विरोधी स्थितियों, घटनाओं आदि के अर्थधोतन में हुआ है, यथा –

'' कमणां च विवेकार्थ धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।

द्वन्द्वैरयोजयच्चेमा : सुख दःखादिभिः प्रजाः ।।''[1]

अर्थात् – '' धर्म और अधर्म के रूप में कर्मों और सुख–दुःख के रूप में उनके परिणामों को द्वन्द्वात्मक अनुभूतियों के साथ जीवों के लिए बनाया गया अर्थात् धर्म–कर्म से सुखात्मक और अधर्म–कर्म से दुःखात्मक जैसे द्वन्द्वात्मक अनुभूतियाँ उत्पन्न होती है। ''

'' अनेन विधिना सर्वात्त्यक्त्वा सगांछनैः शनैः ।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ।। ''[2]

अर्थात् – इस प्रकार जो पत्नि, संतान, संपत्ती आदि के प्रति निस्संग भाव रखते हुए स्वंय को द्वन्द्वात्मक तत्वों से दूर रखता है, वही ब्रह्मा में लीन हो पाता है। द्वन्द्व का अर्थ यहाँ मान–अपमान, सुख–दुःख, दिवस–निषा आदि से है।'' इसी प्रकार संस्कृत महाकाव्य कुमारसंभवम् के तृतीय सर्ग के एक छनद में द्वन्द्व शब्द का प्रयोग '' मिधुन '' व ''जोड़ा'' के अर्थ में हुआ है।

'' देषमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रवन्ने।

काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवत्रुः।। ''[3]

अर्थात् '' हाथ में पुष्प–बाण और पार्श्व में पत्नि रति के साथ सुषोभित मदन जब उस प्रदेष में पहुँचा, तब वहाँ विद्यमान समस्त स्थावर एवं जंगम मिधुनों में उत्कृष्ट स्नेह भाव का संचार हुआ, जो उनकी विभिन्न चेष्टाओं में अभिव्यक्त होने लगा।''

'' हिन्दी शब्द सागर '' में द्वन्द्व के लिए प्रयुक्त अनेक अर्थ इस प्रकार हैं –

1. युग्म । दो वस्तुएँ जो एक साथ हों। जोड़ा।

2. स्त्री पुरूष या नर मादा का जोड़ा।

3. दो परस्पर विरूद्ध वस्तुओं का जोड़ा।

जैसे – शीत, उष्ण, सुख–दुःख, भला–बुरा, पाप–पुण्य, स्वर्ग–नरक, इत्यादि।

4. रहस्य। भेद की बात। गुप्त बात।

5. दो आदमियों की लड़ाई।

6. झगड़ा। बखेड़ा। कलह।. . . . आदि।[1]

इन अर्थों से स्पष्ट हो जाता है कि द्वन्द्व में परस्प विरोधी दो तत्वों अथवा विचारों का होना अनिवार्य है।

'' मानक हिन्दी कोष '' के अनुसार '' द्वन्द्व '' –

1. जोड़ा। युग्म

2. ऐसे दो गुण, पदार्थ या स्थितियाँ जो परस्पर विरोधी हों। जैसे – सुख और दुःख ताप और शीत।

www.ignited.in

3. प्राचीन काल में दो शस्त्र योद्धाओं में होने वाला संघर्ष जिसमें पराजित को विजेता की आज्ञा माननी पड़ती भी अथवा उसके वष में होकर रहना पड़ता था।

4. दो विरोधी अथवा विभिन्न शक्तियों विचारधाराओं आदि में स्वंय आगे बढ़ने और दूसरों को पीछे हटाने के लिए होने वाला संघर्ष।

5. मानसिक संघर्ष।

6. उत्पात। उपद्रव।

7. झगड़ा। बखेड़ा। [2]

इस प्रकार द्वन्द्व बाह्य एवं अभ्यंतर दो रूपों में जीवन का अनिवार्य तत्व बन गया है।

मन–मस्तिष्क के द्वन्द्व की व्याख्या करते हुए कह सकते हैं कि संघर्षषीलता जीवन का एक विषेष गुण होते हुए भी व्यक्ति सर्वदा संघर्षमुक्त रहने के उपक्रम ही करता रहता है। व्यक्ति सदा इसी विचार में मग्न रहता है कि वह स्वंय को अनपेक्षित परिवेष से तथा मन को प्राप्त होने वाली अवांछित दुःखदायक अनुभूतियों से कैसे दूर रख सके और वह जब अपने इन विचारों को क्रियान्वित करते समय जब बाधाओं से जूझने लगता है, तब उसकी उस आंतरिक व्यथा या तनाव की स्थिति को द्वन्द्व की संबा से अभिहित किया जा सकता है। डॉ. सुमन मेहरोत्रा के कथनानुसार '' जहाँ पीड़ा, व्यथा, संत्रास, कुण्ठा आदि अनुभूतियाँ होती हैं वहाँ जब तक वे केवल अपने मौलिक रूप में एकाकी हैं तब तक केवल भावना मात्र रहती है, परन्तु जहाँ पर इन स्थितियों से निष्कासन पाने की इच्छा है वहाँ यह स्पष्ट है कि इन भावनाओं के साथ ही साथ वे विरोधी स्थितियाँ भी होंगी जिनमें जाने की इच्छा उत्पन्न हुई है। अर्थात् जैसे पीड़ा से आनन्द की स्थिति में जाने की मनोवृत्ति या इच्छा है तो ऐसी परिस्थिति में दो विरोधी प्रवृत्तियाँ, मनोवृत्तियाँ या इच्छाएँ एक ही समय में एक स्थल पर उत्पन्न होती हैं जो इन्द्र की जन्मदात्री बन जाती हैं।'' अतः किसी विशेष परिवेष में रहने के लिए विवष व्यक्ति की उस परिवेष के साथ स्थापित मानसिक असामंजस्यता को '' द्वन्द्व '' कहा जा सकता है।

1.7 समकालीन सभ्यता का स्वरूप :

नारी के भीतर जिस मन–मस्तिष्क के द्वन्द्व की बात यहाँ हम कर रहे हैं, वह आधुनिक युग और सभ्यता की उपज है इसलिए इस द्वन्द्व की इस ऐतिहासिक नेपथ्य पर प्रकाष डालना यहाँ आवष्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

मन और मस्तिष्क का द्वन्द्व आधुनिक सभ्यता का एक प्रमुख लक्षण है। महाकवि जयषंकर प्रसाद के '' कामायनी '' काव्य में सारस्वत कथा के तहत जिस '' अभिनव मानव प्रजातंत्र '' की बात की गयी है, उसके बारे में समस्त सुधी आलोचक एक मत है कि ये सारस्वत कथा और उसका अभिनव मानव–तंत्र कुछ और नहीं, बल्कि आज की हमारी भौतिकवादी सभ्यता का ही काव्यगत वस्तु निष्ठ प्रतिरूप है। इस अभिनव मानव के प्रजातंत्र के प्रतिरूप का विष्लेषण करते हुए प्रसाद जी ने एक मार्के की बात कही है।

'' मस्तिष्क हृदय के हो विरूद्ध दोनों में हो सद्भाव नहीं

वह चलने को जब कहेंकहीं तब हृदय विकल चल जाय वहीं। [1]

मस्तिष्क और हृदय का यही वैरूद्य आज की भौतिकवादी विज्ञान–मलक सभ्यता की खासी पहचान है। औद्योगिक सभ्यता के रूप में व्यवहृत होने वाली यह सभ्यता ऐतिहासिक दृष्टि से यूरोप के पूनर्जारण के साथ अस्तित्व में आती है। आस्था और विष्वास पर आधारित पूर्व–वर्ति धार्मिक सभ्यता के स्थान पर बौद्धिकता पर आधारित वा तर्क मूलक नयी सभ्यता का विकास हुआ, तो उसका बाहरी रूप आरम्भ में चाहे जितना अस्पष्ट और भ्रामक रहा हो, पर कालान्तर में यह बात स्पष्ट होती गयी कि इसमें बुद्धि, तर्क, अविष्वास, स्थूलता आदि का बोल–बाला है।

'' मन की कोमल वृत्तियों – जिनको हम हृदय के रूप में जानते पहचानते हैं के लिए इस में स्थानाभाव है ई. पू. शताब्दी की विज्ञान–चालित सभ्यता का झुलसानेवाला रूप आज हमारे सामने अत्यंत ही स्पष्ट है और यह उसी का परिणाम या फल है जिसके बीज यूरोपीय पुनर्जागरण में पड़े थे। आज की इस सभ्यता में हृदय निष्काशित है– जैसे कि कामायनी की समस्त सारस्वत कथा के दौरान कामायनी की '' श्रद्ध '' निर्वासित – निष्कासित है –

और मस्तिष्क का बुद्धि–वृत्ति का अतिबौद्धिकता का भाषण दुर्धषचक्र अपनी समूची निर्ममता व अमानवीयता के साथ गतिषील है। जो हृदय वृत्ति प्रधान नारी के लिए निष्चय ही भारी पड़ रहा है।

1.8 समकालीन सभ्यता और नारी का संकट :

आधुनिक सभ्यता की अंतरात्मा के विषेषज्ञ विष्लेषक कामायनीकार ने कामायनी श्रद्धा को संबोधित करते हुए कहलवाया है–

'' नारी तुम केवल श्रद्धा हो विष्वास–रजत–नग पग तल में

पीयूष श्रोत–सी बहाकारों जीवन के सुन्दर समतल में । '' [1]

इस रूप में प्रसाद जी ने नारी को श्रद्धा–मूलक बताया है। श्रद्धा तत्व की व्याख्या करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुल्क ने बताया है कि श्रद्धा महत्व की आनन्द–पूर्ण स्वीकृति और लोक जीवन की रक्षात्मक अनुभूति है। [2] इस रूप में श्रद्धा लोक संग्रह की वृत्ती ठहरती है और हम जानते हैं कि मनुष्य के भीतर इस लोक–संग्रह वा विष्व–जीवन–सात्मीकरण की वृत्ति कुछ और नहीं, हृदय–वृत्ती ही है। इस रूप में नारी हृदय–वृत्ति–प्रधान ठहरती है और आधुनिक सभ्यता में ऐसी नारी निष्कासित है।

'' कामायनी '' महाकाव्य में आज की यांत्रिक वा भौतिकतावादी सभ्यता का काव्यगत वस्तुनिष्ठ–प्रतिरूप सारस्वत सभ्यता के पूरे दौरान हृदयवृत्ती की प्रतीक कामायनी श्रद्धा पूर्णतः निष्कासित है, यह बात उपर बताई गई है। कामायनी के साथ–ही–साथ प्रकाषित प्रेमचन्द के '' गोदान '' में भी ठीक यह नजारा देखने को मिलता है। उक्त उपन्यास के हृदय–वृत्ति–मूर्ति नारी पात्र गोविन्दी–मिसेज खन्ना भी ठीक उसी रूप में अनादृत, अपमानित और लगभग निष्कासित है। उस युग की इन दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण वा कालजयीकृतियों में यह साम्य कोई संयोग नहीं हो सकता, एक बात और भी है।

www.ignited.in

श्रद्धा का तिरस्कार कर आगे बढ़ने वाला मनु जिस नारी की ओर आकृष्ठ होता है।

वह इडा कृति में तर्क बुद्धि वा बुद्विवाद की प्रतीक है। इदर गोदान में गोविन्दी का, अपनी पत्नि का तिरस्कार कर मिस्टर खन्ना जिस नारी की ओर बढ़ता है वह मालती भी उपन्यास में आधुनिका के रूप में ही चित्रित हुई है। कृत्यंत में श्रद्धा और गोविन्दी की विजय दिखाई गयी है – इस बात को अलग रख दें, तो जो बात हमारे सामने आती है, वह यह कि आधुनिक सभ्यता और आधुनिकता का दबाव नारी को बुद्विवाद या तर्कषीलता की ओर धकेल रहा है और वह उस धृवांत की ओर बढ़ रही है, पर उसके साथ बुनियादी संकट यह है कि वह प्रकृतितः ह्रदय का प्रतीक है–उसकी जैविक भूमिका के लिए, जीवन्तता के लिए यह अनिवार्य शर्त भी है – और सभ्यता का दबाव उसे दूसरी ओर विरोधी दिषा में चलने के लिए विवष कर रहा है और इस रूप में वह विकट द्वन्द्व की षिकार बनती जा रही है। आज की नारी में मन–मस्तिष्क के द्वन्द्व का बुनियादी रूप यही है और इसी का अपने विविध आयाम व परिणतियों के साथ विष्लेषण प्रस्तुत शोध–कार्य का उद्दिष्ट है, अस्तु।

नरी के मन और मस्तिष्क का यह द्वन्द्व उसके जीवन की सभी अवस्थाओं, स्थितियों और संबंद्व क्षेत्रों में व्याप्त होकर नारी को उसकी सहम स्थिति से दूर घसीटता ले जा रहा है, जिसमें पाष्चात्य सभ्यता के प्रभाव से उत्पन्न भ्रामक स्थिति का भी अधिकांष दोष है। समकालीन सभ्यता के दायरे में नारी के मन और मस्तिष्क के द्वन्द्व की इस व्याख्या के उपरांत वर्तमान में उसकी सामाजिक पहचान को भी रेखांकित करना अत्यंत आवष्यक है।

समकालीन सभ्यता में जन्मी, पत्नि और बढ़ी नारी के लिए बहुप्रचलित संबोधन शब्द ''आधुनिक'' है। यह आधुनिका सुषिक्षिता, आर्थिक स्वावलम्बिनी और अंध रूढ़ियों का तीव्र विरोध करने वाली है। जयशंकर प्रसाद का कथन है कि नारी को '' उन बन्धनों से मुक्त करना होगा जो धर्म, आध्यात्म, नैतिकता, बाह्याचारों एवं मिथ्याडम्बरों की श्रंखृलाओं में मन–आत्मा के स्तर पर बांधे रखकर उससे मनुष्य रूप में अपनी निजी पहचान को छीन रहे हैं। ''[1] परन्तु धर्म, अध्यात्म, नैतिकता, बाह्याचारों एवं मिथ्याडम्बरों के तथाकथित जंजीरों को खण्डित करने के उपरांत भी जिस '' मनुष्य '' के रूप में पहचान की प्रबल आकांक्षा व्यक्त की गयी, उसे पाने में आज की आधुनिका सफल नहीं हो पायी है। इसका मुख्य कारण अब भी नारी ह्रदय–तत्व के धरातल पर अपने अतीत से तथा अभी–अभी उसमें विनूत्नता के साथ विकसित बुद्धि–तत्व के धरातल पर अपने वर्तमान से जुड़ी रहकर द्वन्द्व से त्रस्त है। द्वन्द्वगत नारी की इस मानसिकता का विश्लेषण करते हुए डॉ. रामविनोद सिंह कहते हैं '' ह्रदयम में कामवासना के तुनुक तार और विचारों में नवजागरण की पावन गरिमा, दिल की वासना की आंधी और हाथ में आत्मदीय, मन में रीतिकालीन छप्पन छुरी और भाल पर गांधीवादी तिलक में दो धृवांतों की दूरी है इसलिए ऐसी नारियाँ नहीं तो अश्रुस्नात यौवन की विफलता को भोगों से शांत पर पाती है और न ही नवजागरण का मंगलगान ही गा पाती हैं। अर्थात् इतनारियों में न राग की प्रधानता है न ज्ञान की ।''

विचारधारा, जीवन–षैली आदि में जो अकल्पनीय परिवर्तन घटित होकर उसका जो आधुनिकतम और कृत्रिम, परन्तु संघर्षमय रूप सामने उभरकर आ रहा है, उससे संबंद्व प्रतिकूल परिस्थितियों की हल्की रेखायें नारी के जीवन प्रभात् में ही खिंचनी आरम्भ हो जाती है। ऐसीप्रतिकूल परिस्थितियों के मध्य जीवन का श्री गणेष करने वाली नारी को अपनी अस्मिता बनाये रखने के लिए शिक्षा, रोजगार, विवाह आदि सभी मामलों में संघर्ष से ही गुजरना पड़ रहा है। हमारी आबादी का एक बृहदांष आर्थिक धरातल पर मध्यवर्ग और निम्न वर्ग के रूप में विभाजित है। अपनी–अपनी समस्याओं से जूझते ये दोनों वर्ग पूर्णतः न परम्परावादी ही है, न ही पूर्णतः प्रगतिषील बन पाये हैं। संदिग्धता के इस भंवर में फंसे इन मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय परिवारों में आज भी शिशु के जन्म और नारी शिक्षा के संदर्भ में व्याप्त विचार संतोषजनक या वांछित नहीं है थोड़ी–सी विष्लेषणात्मक दृष्टि के सहारे इस तथ्य की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है– औधौगिक क्रान्ति के साथ आरम्भ होने वाली विज्ञान की विकसनषीलता को मानवजाति के पूर्ण–उन्नयन के प्रतीक स्वरूप देखना सामंजस्यपूर्ण नहीं है, क्योंकि इस वैज्ञानिक प्रगति ने जहाँ जीवन रक्षा से संबंधित अनेक चिकित्सा और औषधियों का योगदान दिया, वहीं पर आज उसने एक ऐसी अत्याधुनिक प्रणाली को विकसित किया, जो मातृ–गर्भ में ही शत्–प्रतिषत् सत्यता के साथ षिषु का लिंग निर्धारण कर रही है। यह प्रणाली भ्रूणावस्था में भविष्य की राह देखने वाली स्त्री षिषुओं के लिए जिन कारणों के आधार पर अभिषाप बन गयी है, कदाचित उनके व्याख्या विष्लेषण की आवष्यकता नहीं है, कहीं माताओं के वैय्यक्तिक कटु अनुभवों का तनाव, तो कहीं ससुरालवालों का नृषंसतापूर्ण दबाव, पहले कुछ लड़कियों को जन्म देकर पुत्र की अपेक्षा में निराषा से त्रस्त माता की अंधरूढ़ि विचारधारा, तो कहीं दहेज से संबद्व समस्याओं का विकृत प्रभाव–स्थूल रूप में ये सब कारण किसी–न–किसी रूप में नारी को इस भ्रूण पहचना वैज्ञानिक प्रणाली का आश्रय ग्रहण करने के लिए विवष कर रहे हैं। इस प्रकार आज गर्भस्स नारी पिंड में चेतना का संचार होते ही उसे अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए एक परोक्ष संघर्ष में फंस जाना पड़ रहा है। इन स्त्री–भ्रूण हत्याओं को इतिहास में उल्लिखित कन्या षिषुओं के नृसंषतापूर्ण वध का रूपांतरित वैज्ञानिक विकृति मानना ही समोचीन होगा। संक्षेप में यह नारी के जीवन प्रभात से पूर्व की दुर्दषापूर्ण भूमिका है।

आज भी एक अन्या की लड़की की एक भूल दंडनीय और लड़के की सौ–सौ भूलें माफ वाले परिवेष से संघर्ष कर आगे बढ़ना पड़ रहा है। सरकारों के संवैधानिक पहल, समाज सुधारकों के प्रयत्न, समाज शास्त्रियों के सुझावों के परिणाम स्वरूप आज स्त्री षिक्षा के साथ–साथ उसके रोजगार को भी कहीं अधिक महत्व दिया जा रहा है, लेकिन नारी–जीवन के संदर्भ में इस सामाजिक परिवर्तन को उन्नती के उत्कृष्ट प्रतीक के रूप में भी देखा नहीं जा सकता है, क्योंकि आधुनिका के लिए अनिवार्य से बने ये षिक्षा और रोजगार, नारी को अपनी भोगवादी–प्रवृत्ति के अनुकूल एक नये ढाँचे में ढालने की पुरूष प्रवृत्ति के ही परिणाम है। एक ओर पाष्चात्य नारी की आर्थिक स्वाधीनता से प्रभावित होकर और दूसरी ओर पुरूष द्वारा दिये जाने वाले तथाकथित समानाधिकारों के झाँसे में पडकर नारी रोजगार पा रही है और कभी प्रत्यक्ष रू॰ में, तो कभी परोक्ष रूप में उसी आर्थिक स्वतंत्रता के दायरे में प्रवंचित हो रही है।

जिसके प्रति वह अत्यधिक अभिमान रख रही है। नारी की आर्थिक स्वाधीनता के संदर्भ में श्रीमती महादेवी वर्मा का कथन है '' विवष आर्थिक पराधीनता अज्ञात रूप में व्यक्ति के मानसिक तथा अन्य विकास पर ऐसा प्रभाव डालती रहती है जो सूक्ष्म होने पर भी व्यापक तथा परिणामतः आत्मविष्वास के लिए

विष के समान है। किसी भी सामाजिक प्राणी के लिए ऐसी स्थिति अभिषाप है जिसमें वह स्वावलम्बन का भाव भूलने लगे, क्योंकि इसके अभाव में वह अपने सामाजिक व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता।'' [1] ध्यातव्य है कि अपने उस सामाजिक व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए आधुनिका ने रोजगार के नये क्षेत्र में पदार्पण तो किया, परन्तु समस्याओं और संघर्ष की स्थिति से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पायी, जिस मुक्ति की कल्पना कदाचित वह इस क्षेत्र में आने से पूर्व करती रहा थी। रोजगार के रूप में आर्थिक स्वाधीनता को प्राप्त करने से पूर्व नारी यही विचारती रही कि अर्थ के संदर्भ में उसका पुरूष सापेक्षी रहना ही उसकी आत्मन्यूनता और अबलापन के कारण है परन्तु नारी के रोजगार पाते ही उसकी स्थिति में कोई गुणात्मक परिवर्तन आने के बदले उसका जीवन कुछ नये प्रश्नों में उलझ गया है। चूल्हे–चौखे के पारम्परिक कर्तव्यों के साथ उसे अब नये दायित्व भी कुशलता के साथ निभाने पड़ रहे हैं, जो उसकी थकान और मानसिक तनाव को दुगने करते जा रहे हैं। विभिन्न कार्यालयों और संस्थानों में कार्यरत नारी के साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार, दी जाने वाली धमकियों की कोई सीमा नहीं है जिस में संबंद्ध उच्च पदाधिकारियों और सहकर्मियों की कुंठित यौन मानसिकता की विकृति ही परिलक्षित होती है।

हाल के वर्षों में उच्च पदासीना एक नारी को खुले आम दूसरे उच्च पुरूष पदाधिकारी के द्वारा चाँटा मारने की जो घटना सामने आयी, वह एक नारी को लगा तमाचा नहीं, बल्कि आधुनिक समाज के नारी जागरण आंदोलन के मुँह पर लगा तमाचा माना जाना चाहिये। मेरा मतलब सुश्री रूपम देवल बजाज बनाम के.पी. एस गिले के केस से है। इस संदर्भ में सुश्री बजाज की ओर से मुकदमा चलाने वाली सुप्रीम कोर्ट की एक विख्यात महिला वकील सुश्री इंदिरा जय सिंह से दिए गए साक्षात्कार का यथावत शब्द–रूप प्रस्तुत किया जा रहा है। सुश्री इंदिरा जय सिंह ने कहा – '' अभी मैं और एक केस कर रही हूँ रूपम देवलबजाज का, जो चण्डीगर में बहुत सीनियर आई.ए.एस. आफीसर वीं, वो एक चीफ सेक्रटरी के पार्टी में गयी थीं और वहाँ डि.जी.पी., के. पी.एस. गिल भी ये आप देख सकते है दोनों इतने सीनियर आफीसर थे और हम तो चाहेंगे कि ऐसे आफीसर तो मॉडल होने चाहिये लेकिन उस आदमी के.पी.एस. गिल ने रूपम देवल को एक ऐसा चाटा मार दिया बहुत बुरी तरह से सब लोगों के सामने पार्टी में, अब उसका भी केस गया था कोर्ट में और अप्सोस की बात है कि हाईकोर्ट में के.पी.एस. गिल का ऐसा आर्गयुमेन्ट था कि उसने कहा कि यह बहुत छोटी–सी बात है ऐसे तो होता ही रहता है और अफसोस की बात है कि जज ने भी ऐसा ही जजमेन्ट दिये कि सिर्फ एक चाँटा ही मार दिया और तो कुछ नहीं किया इसलिए यह बहुत बड़ी बात नहीं है। क्या औरत को उसक वक्त तक रूकना पड़ेगा कि उसका रेप हो जाय और क्या तब तक वह कंप्लाइंट नहीं कर सकती है।

उस घटना के संदर्भ में व्यक्त सुश्री इंदिरा जय सिंह के विचार पूर्णतः प्रासंगिक ही नहीं अपितु कामकाजी महिलाओं के भविष्य के संदर्भ में पुनः विचारणीय है। जब तक नारी की सुरक्षा और उसके समानाधिकार संबंधी कानूनों की अमल पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ नहीं की जायेगी, तब तक उनकी प्रासंगिकता पर प्रष्न–चिह्न जैसे के तैसे लगे ही रहेंगे। आज की कामकाजी आधुनिका का उक्त मानसिक संत्रास उसके कर्मक्षेत्र तक ही सीमित न रहकर उसके पारिवारिक जीवन की गहरी जड़ों तक भी व्याप्त हो रहा है। कतिपय परिवारों में काम–काजी नारियों को अपने मेहनताने पर पूरा अधिकार का न होना भी देखा जा सकता है, जिस प्रकार पति की प्राकृतिक बुभुक्षा को शांत करने तथा संतान और परिवार के अन्य सदस्यों की सेवा–सुश्रूषा करने में एक नारी तिल–तिल कटती हुई शारीरिक और मानसिक रूप में रिक्त होता जा रहा है, उसी प्रकार यदि वह काम–काजी भी हो, तो उसके कंधे पर झूलने वाला चमड़े का बैग भी उसके पति के भागेवादी पंजे की सफाई से हर पहली को खाली होता जा रहा है। ऐसे संदर्भों में नारी की आर्थिक स्वाधीनता मात्र मौखिक सिद्ध हो रही है। चमड़े के बैग का खालीपन नारी–जीवन की शून्यता का प्रतीक–सा प्रतीत हो रहा है। इतालवी दार्षनिक माकीयवेल्ली का एक बार यह कहना था कि '' व्यक्ति अपने पिता के हत्यारे को भी क्षमाकर सकता है, परन्तु अपने संपत्ती पर अधिकार करने वाले को नहीं ''

जिस से अर्थ का महत्व और प्रभाव स्पष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अर्थोपार्जन के लिए बाध्य एक नारी अपने खून–पसीने की कमाई पर किसी दूसरे के अधिकार और दुरूपयो को कैसे सहपायेगी ? चाहे वह सहनषीलता की प्रतिमूर्ति और हृदय–तत्व की प्रतीक ही क्यों न हो। ध्यातव्य है कि नारी को हृदय तत्व का प्रतीक माने जाने का तात्पर्य यह नहीं कि वह सदा मौन रह कर अन्याय और अत्याचार को सहती रहे, – और किसी भी रूप में कदापि अपनी प्रतिक्रिया अथवा विरोध को अभिव्यंजित ही न करे इसीलिए आज की आधुनिका चाहे वह अविवाहिता हो या किसी की पत्नि अपने पारिश्रमिक दोन के अत्याचार को सहने के लिए तैयार नहीं है, जिसका विरोध अब कभी मौखिक विद्रोह के रूप अभिवयंजनर पा रहा है, तो कभी सक्रिय रूप में।

नारी जीवन से जुड़ा एक अत्यंत प्रमुख मुद्दा उसके विवाह से संबंद्ध है। प्रकृतिक आवष्यकताओं की संतुलनात्मक परिपूर्ति हेतु समाज द्वारा आरम्भ की गयी एक परम्परा ही विवाह की व्यवस्था है परन्तु इस परम्परा से संबंद्ध विधि–विधानों और सूत्रों की संरचना, पुरूष ने अपनी बुद्धिवादी प्रवृत्ति और अबोध सुखापेक्षिता के अनुरूप ही किया। इस परम्परा के आरम्भ से अब तक का विकासक्रम, रेखांकन योग्य जिन प्रमुख बिन्दुओं को प्रस्तुत करता है, वे इस प्रकार है– नारी और पुरूष के संदर्भ में नैतिकता के दोहरे मापदण्ड अपनाये जाने लगे। नारी के निस्संतान होने का दोष पूर्णतः नारी के सर ही मड़ा जाने लगा और इसी विकृत मानसिकता ने बहु विवाह व्यवस्था को जन्म दिया जहाँ पत्नि की भृत्यु के उपरांत पति को पुनर्विवाह करने का अधिकार प्राप्त था, वहीं पति विहीना नारी जीवन व्यथा और शोषण से भरे वैधव्य के गहरे गर्त में डाल दिया जाता था। विवाह व्यवस्था की इन विदूषताओं के विरोध में नारी अपना विद्रोह व्यक्त न कर सके, इस विचार से पुरूष ने नारी को धर्म का भय दिखाया और उसे नारी को समझाया गया, यहाँ चाहे वह पुरूष का मुकाबला भले ही कर ले परन्तु परलोक में उसे पछताना पड़ेगा, क्योंकि उसकी स्वतंत्रता भगवान की आज्ञा और धर्म के विरूद्ध है।'' [1] आध्यात्म और परतिव्रत्य धर्म जैसे शब्दों की आड़ में खेले जाने वाले भोगवादा प्रवृत्ती प्रधान इस विवाह के नाटक पर नारी–जागरण–आंदोलन ने परदा डाल दिया। विवाह के संदर्भ में दीर्घ समय तक मौन रहने वाली नारीवाणी ने इस व्यवस्था में आमूल–चूल परिवर्तन के पहल आरम्भ किये। समकालीन समाज में अब विवाह की व्यख्या एकांगी नहीं है। विवाह से जुड़ी समस्याओं में जाति, धर्म और दहेज उतना अधिक प्राधान्य आज नहीं है जो कि पहले हुआ करते थे। आज की आधुनिका, वर के चुनाव में अपेक्षाकृत कहीं अधिक स्वाधीन है। वर्तमान वैवाहिक जीवन के संदर्भ में पति–पत्नि के संबंधों की व्याख्या करते हुए डॉ. बिजली प्रभा प्रकाष कहती है '' आधुनिक युग में पति–पत्नि के संबंधों में वह कड़ाई नहीं रही जो प्राचीनकाल में थी। आज न पत्नि के लिए पति देवता है और न पति के लिए

पत्नि देवी। आज समानता का युग है, तलाक का युग है।'' [2] दांपत्य जीवन का मूल लक्ष्य मात्र–भौतिक वासनाअें की परितृप्ति नहीं है, प्रत्युत जीवन को सामाजिक परिवेष में सम्पूर्णता प्रदान करना है। हिन्दी साहित्य की महान विभति जैनेन्द्र कुमार की उक्तियों में इसी तथ्य की पुष्टी की गयी है।

यथा – मेरे तो विचार है भोग पर आधारित विवाह सीमित होता है– उसमें सम्पूर्णता की कमी होती है उसी सम्पूर्णता की तलाष प्रेयसी में होता है।'' [1] जैनेन्द्र का समाधान है कि नारी पति को पत्नित्व देकर भी प्रेमा की स्नेह तो दे ही सकती है। '' [2] जीवन की संपूर्णता का यह तथ्य उच्च जीवन मूल्यों का प्रतीक सैद्धांतिक स्तर पर अवष्य प्रमाणिक है, क्योंकि पश्चमी सभ्यता से प्रभावित आधुनिका के विचार विवाहेतर संबंद्धों के संदर्भ में कुछ और ही है, जो फ्री–सेक्स में विष्वास के रूप में उभरा है, इसे भोगवादी पुरूष की भोग्या रहने के उपरान्त नारी '' आधुनिका '' के रूप में ऐसे उन्मुक्त आचरण के द्वारा कुछ–कुछ मानसिक परितोष पा रही है कि आज पुरूष उसके लिए भोग की वस्तु है, चाहे इस मानसिकता और आचरण के परिणाम नारी के लिए कालांतर में कुछ बुरे ही क्यों न ही, परन्तु ऐसे आचरण के दौरान आधुनिका का दृढ़ विष्वास यह है कि वह पुरूष के साथ सौ प्रतिरात समानता प्राप्त करने में सफल हो गयी है। एक मनोवैज्ञानिक तथ्य यह भी है कि व्यक्ति अपनी सफलता और उत्कृष्ट पहचान को अपने पक्षधरों की दृष्टा का अपेक्षा विरोधियों का दृष्टि में बनाये रखना चाहता है और उसी स्थिति को अपनी अस्मिता की सही स्वीकृति मानता भी है इसलिए सदियों से पुरूष के साथ सहजीवन बिताने वाली नारी स्वंय को पुरूष सापेक्षी मानने के साथ–साथ उसे अपना प्रतिद्वन्दी भी मानती चली आयी है। उस के इसी दृष्टिकोण से उत्पन्न मानसिकता ने तथाकथित उक्त उच्छ्ंखल व्यवहार अथवा नैतिक मूल्यों के ह्रास का रूप धारण किया।

वर्तमान समाज में नैतिकमूल्यों की इस असामंजस्यपूर्ण स्थिति की व्याख्या नारी के पक्ष में रहते हुए की जाय और इसे नैतिकमूल्यों में घटित एक परिवर्तन अथवा इतिहास की नवीनीकृत पुनरावृत्ति मान लिया जाय तो बेहतर होगा। नारी के संदर्भ में नैतिकमूल्यों की मार्क्सवादी परक व्याख्या यषपाल ने भी की, उनके मतानुसार नैतिकता समाज व्यवस्था पर आधारित रहती है और समाज व्यवस्था में परिवर्तन के साथ नैतिक मूल्यों में परिवर्तन आवष्यक है।'' [1] समकालीन समाज में अनेक पुरूषों के साथ नारी के दैहिक संबंध रखने की मानसिकता को ऐतिहासिक पुनराविृत्ति की संबा इसलिए दी गयी है, क्योंकि मानव सभ्यता से संबंध पत्थर युग में '' प्रत्येक स्त्री मनचाहे पुरूष से यौन संबंध कर सकती थी, उसे छोड़ सकती थी। वह किसी एक पुरूष से अनुबंधित नहीं थी।'' [2] इस प्रसंग में इतना तो कहा जा सकता है कि आज का विवाह नाममात्र का एक सामाजिक अनुबंद्ध अथवा ढकोसला बन गया है। इस प्रकार विवाहेतर संबंधों के प्रति अपनी रूझान के द्वारा नारी वैवाहिक व्यवस्था के खोखलेपन की ओर संकेत करना चाह रही है। नारी प्रवृत्ती में बढ़ती इस मनुष्य प्रवृत्ती के कारण अब सभ्यता और नैतिकता जैसे शब्दों की एक नयी व्याख्या लिखने का समय आ गया है।

'' स्पष्टतः नयी नैतिकता के अन्तर्गत पुरानी बातें अपने आप टूट जाती हैं। आक्रोषभरा स्त्री–समुदास मुक्ति–कामना हेतु बड़े पैमाने पर संघर्ष करता रहा है। यह संघर्ष एकतरफा नहीं दोतरफा है। मुक्ति–कामी स्त्रियों और पुरानी परम्पराओं को ढोने वाली स्त्रियों की मानसिकता में भी द्वन्द्व छिड़ा हुआ है।'' इस प्रकार देखा जाये तो समकालीन नारी एक ओर आधुनिकता के ढाँचे में ढलने के उपक्रम भी कर रही है, तो दूसरी ओर परम्पराओं को पूरी तरह तिलांजली देना भी उसके लिए कठिन हो रहा है।

विवाह के उपरांत नारी–जीवन में आने वाला एक अत्यंत सहज प्राकृति परिवर्तन का नाम ही मातृत्व है। प्राचीन समाज में तो विवाहोपरांत नारी के तुरंत मातृत्व ग्रहन के लिए गर्भाधान जैसे संस्कारों का नियोजन तक होता था। आज की वैज्ञानिक उपलब्धि यह है कि मातृत्व भी ऐच्छिक बन गया है, ऐच्छिक होते हुए भी यदि मातृत्व की प्राप्ति विवाहेतर संबंधों के कारण होता है, तो न उस माता की सामाजिक प्रतिष्ठा ही अकलंक रह सकती है, न ही उस संतान की स्थिति सुरक्षित। इसलिए परम्परा और रूढ़ संस्कारों से ही नहीं, सामाजिक व्यवस्था के दृढ़ीकरण का दृष्टि से भी विवाह के बाहर संतति की उत्पत्ति सामाजिक लांछन, अपमान और अपराध के रूप में ही अनादिकाल से चली आ रही है।'' [2] परन्तु वर्तमान में मातृत्व भावना के प्रति नारी के विचारों में काफी कुछ परिवर्तन आ गये हैं। '' अपुत्रस्य गतिर्नास्ति '' का भावना अब बहुत हद तक समाप्त हो चुकी है।

क्योंकि निस्संतान दंपत्ति को मृत्यु के उपरांत नरक में जाना पड़े या नहीं, यह तो और बात है, परन्तु आज बढ़ती आत्मकेन्द्रीयता और विघटित परिवारों के माहौल में कई वृद्ध माता–पिता अपनी ही संतान द्वारा बड़ी निर्ममता से निष्कासित कर वृद्धाश्रमों (ओल्डेज होम) में पहुँचा दिये जा रहे हैं, जिसे देखकर समकालीन नारी का निस्संतानवती रहने का निर्णय पूर्णतः समीचीन ही प्रतीत होता है, क्योंकि वर्तमान में नारी की यह वैध्यता उसके लिए कोई अनुपलब्धि नहीं है।'' साइमन दी ब्यूवार की मान्यता है कि मातृत्व नारी की उपलब्धि नहीं, प्राकृतिक क्रिया है। षिषु को जन्म देकर वह अपना भविष्य संवारने की बात नहीं सोच सकती, क्योंकि अन्य के सहारे अपने भविष्य की रूपरेखा नहीं बनाई जा सकती।'' [1] समकालीन समाज में विवाह न करते हुए पुरूष और नारी के साथ–साथ रहने की एक अजीब–सी परम्परा चल पड़ी है, जिसके परिणामस्वरूप यदि वह नारी किसी षिषु को जन्म देती भी है, तो शंका यह उठ खड़ी होती है कि उस षिषु के प्रति माता के रूप में अपने कर्तव्यों को किस हद तक पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ निभा सकने की मानसिकता रख रही है ? यदि नारी के मन में मातृत्व के प्रति पूर्ण निष्ठा है, तो वह इस प्रकार की अवैवाहिक जीवन–षैली में रूचि ही नहीं रखती, क्योंकि वह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में है, जो नारी और उसकी भाविसंतति के प्रति सर्वत्र आदर का प्रबन्ध कराती है, जो एक अविवाहिता माता और उसकी संतान को प्राप्त नहीं होता है।

कतिपय संदर्भों में अत्याधिक बुद्धिवादिता और भौतिकवादिता के कारण नारी द्वारा विवाहेतर संबंधों से उत्पन्न अपनी ही संतति को त्याग देना भी समकालीन सभ्यता का एक लक्षण बन गया है। यह मानवजाति के प्रति मानवता के उपहास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दूसरी ओर उन माताओं की स्थिति अत्यंत तनावपूर्ण होती जा रही है, जो विवाहिता तो है, साथ–ही–साथ कामकाजी भी। इनके कर्तव्य और बोझ दुगने अब तिगुने होते जा रहे हैं, इन्हें घर–गृहस्थी और नौकरी के साथ–साथ संतान संबंधी जिम्मेदारियाँ भी वहन करनी पड़ रही है। ऐसे संदर्भों में पति के सहयोग की गारंटी सर्वत्र एक जैसी नहीं है। अपने बुढ़ाये में अपनी संतान की सहायता पर अग्रिम रूप में पूर्णतः भरोसा रखने वाली इन नारियों के सभी के सभी उपक्रम और त्याग अधिकांष संदर्भों में '' हरी–भरी–सी दौड़–धूप '' जैसे होते

जा रहे हैं। जवानी में स्वावलंबिनी रहने वाली नारी कदाचित अपनी वृद्धावस्था में भी पुत्राश्रित के रूप में पुरूष सापेक्षिता न रहने के पूर्वाग्रह के कारण ही मातृत्व के प्रति उदासीनता का व्यवहार कर रही है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि कभी रसराज का प्रतिरूपा और रसिकता का प्रतिमूर्ति के रूप में कभी नगरवधू बनकर तो कभी धर्म का आड़ में देवदास के रूप में नियुक्त और पुरूष का अनियंत्रित भोगवादिता द्वारा प्रवंचित होकर नारी जिस तिरस्कृत रूप को अपनाने के लिए विवष का गया उसकी सर्वविदित संज्ञा ही '' वैष्या '' है। सुसभ्यता का दावा डंके की चोट पर करने वाले वर्तमान समाज में भी नारी के इस वैष्या रूपी अस्तित्व का बना रहना सभ्यता का सार्थकता पर ही कुठाराघात है। नारी इस धरती के किसी भी प्रदेष या प्रांत की क्यों न हो, परन्तु वह कदापि इस धृणित पेषे को अपनाना नहीं चाहेगा। फिर भी नारी द्वारा इस धृणित व्यवसाय को अपनाये जाने का विवषताओं की व्याख्या से पूर्व इस व्यवसाय को समाज में स्थायित्व प्रदान करने में पुरूष का भोगवादी प्रवृत्ती के योगदान का उल्लेख भी अत्यंत आवष्यक है। भौतिक वासनाओं की परितृप्ति के संदर्भ में वैविध्यता प्राप्ति की सम्भावनाओं की कल्पना से प्रेरित होकर ही पुरूष ने वैष्या–व्यवसाय की प्रासंगिकता और अनिवार्यता के पक्ष में अपना मत दिया। ध्यातव्य है कि '' जब तक यौन–भावना पर प्रतिबंधों और निषेधों का प्रबल दबाव रहेगा, सम्भवतः व्यावसायिक रूप में वैष्या की महत्वपूर्ण स्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकेगा। महत्वपूर्ण स्थिति से यहाँ उल्लेख्य तात्पर्य मानव सभ्यता और संस्कृति में उसकी उपस्थिति, उसके बने रहने से है। एक और यदि वैष्यावृत्ति को सामाजिक आवष्यकता के रूप में स्वीकृति मिली तो दूसरी ओर नैतिकतावादी वैष्यावृत्ति को धृणा से देखते हैं। अतः समाज की यह दोहरी–वृत्ति वैष्या की स्थिति व समस्या में विरोधाभास उत्पन्न करती है।

'' [1] अपने प्राणों की अपेक्षा अपनी चारित्रियक विषुद्धता को महत्व देने वाली भारतीय नारी का स्वंयमेव वैष्यावृत्ती को अपना लेना अथवा उसको बलात इस धृणित वृत्ती के गर्त में ढकेल देना अत्यंत दुभाग्यापूर्ण बात है। इस पेषे को अपनाने वाली नारी का विवष्ता की ओर संकेत करते हुए यषपाल का कहना है –'' वैष्या उसे कहते हैं जो अपना पेट भरने के लिए अपना शरीर बेचे, ऐसा करने लिए स्त्री तभी विवष होता है जब जीवन–रक्षा का कोई दूसरा उपाय उसके पास नहीं रहता।''

[2] स्पष्ट है कि एक नारी द्वारा इस वैष्या वृत्ती को विवष होकर अपनाये जाने की पृष्ठभूमि में अनेक कारण हो सकते हैं। यथा – अविवाहिता की स्थिति में अनपेक्षित मातृत्व की प्राप्ति परिणामतः परिवार से नारी का निष्कासित होना भाविसंतान के प्रति मोह अषिक्षा एवं आर्थिक निष्वलंबता की स्थिति में कोई अन्य विकल्प का न होना, पुरूष के अत्याचार का षिकार होकर विवाह सूत्र में बंधने की संभावना से दूर हो जाना आदि। यदा–कदा नारी के स्वंय की दुर्बलताओं के कारण भी उसका इस व्यवसाय में प्रवृत्त होना पाया जाता है। जी.आर. स्कॉट के मतानुसार '' वैष्यावृत्ति के प्रमुख कारणों में जिन प्रवृत्तिजन्य दुर्बलताओं का विवरण दिया जाता है इनमें श्रृंगारप्रियता, रसलोलुपता, इन्द्रिय–सुख की कामना और प्रदर्षनों का भाव विषेष रूप से उल्लेखनीय है। विलासिता के प्रति आसकित आलस्य और कभी–कभी दोनों का समन्वयात्मक रूप ही वैष्यावृत्ति में प्रवृत्त होने के कारण माने गये हैं।''

चन्द्रकला हाटे का कथन है '' कम आयुवाली निराश्रिता, समाज–तिरस्कृता, विधवा–स्त्रियाँ अक्सर जीविका का कोई अन्य साधन न पाकर वैष्या–वृत्ति अपना लेती है।'' वैष्या का दुर्दषा इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि एक ओर तो घर–गृहस्ती चलाने वाली नारियों की दृष्टि में वह पतिता और कलंकिनी बनी ही रहती है, साथ–ही–साथ उस के पास आकर अपनी भौतिक वासनाओं की परितृप्ति करने वाले पुरूषों की नजर में भी वह बिना मेहनत किये पैसे ऐंट लेने वाली अथवा सुन्दर चोर ही बनी रहती है। समाज में इसके प्रति सहानुभूति जताने वाले लग–भग नहीं के बराबर होते हैं। षिक्षिता वैष्याओं की अपेक्षा अषिक्षिता वैष्याओं का शारीरिक पतन बहुत जल्दी हो जाना अत्यंत स्वाभाविक है, क्योंकि षिक्षिता वैष्यायें कुछ सीमा तक अपने स्वास्थ्य के लिए भी पैसे खर्च कर सकती है। अनेक चिकित्सकों, समाज–सेवी संस्थाओं ओर प्रसार माध्यमों के प्रयत्नों से आजकल एइड्स जैसी भयानक बीमारी के बारे में जो जानकारी, सूचनायें ओर सलाह प्रचार प्राप्त कर रहे हैं, उनसे आज का वैष्यावर्ग कुछ सचेत–सा हो गया है। सन् 1996 ई. में कलकत्ता में भारतीय वैष्याओं का एक राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित हुआ, जिस में कुछ प्रस्ताव भी पारित हुए। यथा – वैष्याओं को सामाजिक सुरक्षा प्रदान किये जाने के लिए सरकारों की ओर से कुछ पहल किया जाना अनिवार्य है समय–समय पर उनके स्वास्थ्य की जाँच कराने की सुविधायें उपलब्ध होनी चाहियें सभी वैष्याओं को एक जुट होकर उनके पास आने वाले पुरूषों को परिवार नियोजन के साधनों का प्रयोग करने के लिए जोर देना चाहिए आदि।

नैतिकता के धरातल पर वैष्या की सामाजिक स्थिति तो अत्यंत हेय सिद्ध हो चुकी है, परन्तु आर्थिक स्थिति के संदर्भ में भी उसकी समस्यायें कुछ कम नहीं है। इस क्षेत्र में दलाली करने वाले गुण्डों, वैष्यागृह चलाने वालों और जब तब ऐसे गृहों पर टूट पड़ने वाली पुलिस, इन सभी के भयानक अत्याचार वैष्या को सहने पड़ते हैं। वर्तमान सभ्य समाज में यदि किसी की धारणा यह है कि समाज में नैतिक मूल्यों के ह्लास का एक कारण और समाज में अनेक भयानक व्याधियों को व्याप्त करने वाली विषाणु वैष्या–वर्ग ही है, अतः समाजिक कल्याण के लिए इस वर्ग को ही समाप्त कर देना चाहिये तो यह धारणा बिलकुल गलत है, क्योंकि वैष्याओं की अनुपस्थिति में भी नैतिक मूल्यों का उपहास और बीमारियों का संक्रमण हो सकता है इसीलिए वैष्या रूपी इस सामाजिक समास्या के निदानार्थ ऐसे कदम उठाये जाने चाहिये, जिससे कि किसी भी नारी को विवष होकर इस वृणित व्यवसाय को अपनाना न पड़े। तिरस्कृता और उपेक्षिता नारी वर्ग में षिक्षा के प्रचार–प्रसार, रोजगार के अवसरों की व्यवस्था के द्वारा इस समस्या को कुछ सीमा तक सुलझाया जा सकता है।

1.9 निषकर्ष :

औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप उद्भूत पूँजीवाद ने व्यापार और राजनीति के साथ–साथ समाज की जीवन शैली और व्यक्तियों की विचारधारा को भी बहुत प्रभावित किया। वैज्ञानिक विकास ने पुरूष भौतिकवादी प्रवृत्ती में सुखापेक्षिता की बढ़ौत्री कर दी, परिणामतः नारी वर्ग पर अत्याचार और शोषण बहुत बढ़ गये। पष्चिम के नारी जागरण आंदोलन और अंग्रेजों के भारत आगमन के परिणामों ने नारी में एक नयी चेतना का संचार किया। अब नारी अत्याचार के विरोध में अपना स्वर ऊँचा ही नहीं करने लगी, प्रत्युत उसने अपने अधिकारों की माँग भी शुरू कर दी। षिक्षा के प्रसार, रोजगार के अवसर आदि ने नारी की स्थिति में थोड़े सुधार किये, परन्तु समकालीन सभ्य–समाज में नारी का एक ऐसा वर्ग भी सामने आया, जो समानाधिकार प्राप्ति की गलत व्याख्या के प्रभाव में आकर उच्छृंखल व्यवहार करने लगा। जिस रूप में नारी की

www.ignited.in

सामाजिक पहचान हो रही थी, उसे अपनाने के लिए नारी को विवष होना पड़ा, क्योंकि यह अस्मिता का प्रष्न है। इस प्रकार नारी अपने प्राकृतिक और सहज गुणों से दूर होने के लिए मजबूर करती गयी और उसने कृत्रिम बौद्धिकता का आवरण अपने ऊपर डाल लिया। अनेक क्षेत्रों में पुरूष की समानता करते हुए भी वर्तमान नारी मानसिक स्तर पर पूर्णतः संतुष्ट नहीं है, क्योंकि आज नारी के ह्रदय और मस्तिष्क से जुड़े हुए दो–दो प्रतिकूल व्यक्तित्वों के मध्य का संघर्ष अनिवार्य हो गया है और यही उसकी सबसे बड़ी दुविधा है।

<u>सन्दर्भ ग्रन्थ सूची</u>

1. गीतिका – भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद तृतीय संस्करण सम्वत्–2005

2. तुलसीदाय – भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद तृतीय संस्करण सम्वत्–2005

3. नये पत्ते – लोक भारती प्रकाशन सन्–1973ई0

4. परिमल – गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ बारहवाँ संस्करण सन्– 1972ई0

5. बेला – निरूपमा प्रकाशन शहराबाग, प्रयाग